

देवेन्द्र दीपक के कथा साहित्य में सांस्कृतिक विमर्श के विविध आयामों का सामाजिक प्रभाव शोध-सार

निहारिका शर्मा

शोधार्थी

विषय : हिन्दी साहित्य

जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)

**Paper Received date**

05/08/2026

Publishing Date

10/08/2026

DOI<https://doi.org/10.5281/zenodo.22673712>

**IMPACT
FACTOR
5.924**

‘संस्कार’ शब्द से निष्पन्न ‘संस्कृति’ का अर्थ किसी विकृत अथवा अपरिष्कृत विषय, वस्तु, पदार्थ आदि को सुधारने, संवारने, परिष्कृत-परिमार्जित करने के सन्दर्भ में ग्रहण किया जाता है। संस्कृति की रक्षा का सीधा सम्बन्ध समाज और राष्ट्र के संरक्षण से जुड़ा है। जो समाज अपनी संस्कृति की रक्षा कर लेता है उसकी राष्ट्रीय अस्मिता कभी विलुप्त नहीं होती किन्तु जो राष्ट्र सांस्कृतिक-संरक्षण में विफल होते हैं वे अपनी मूल पहचान ही खो देते हैं। रोम, मिस्र आदि प्राचीन देशों का इतिहास इस तथ्य का साक्ष्य है। संस्कृति का शास्त्रीय पक्ष साहित्य होता है। साहित्य में संस्कृति जीवन्त हो उठती है, अमरता पाती है और संस्कृति के शुभ आलोक से दीप्त साहित्य सम्बन्धित राष्ट्र और समाज की स्थायी पहचान बन जाता है। साहित्य और संस्कृति की यह अन्तरंगता एक-दूसरे को जीवित रखती है। इसीलिए जब संस्कृति में विकार उत्पन्न होते हैं अथवा बाहरी तत्त्व किसी संस्कृति को आक्रान्त कर विद्रुप करने का कुचक्र रचते हैं और वही विद्रुपता साहित्य में भी पैर पसारने लगती है तब साहित्यकार सांस्कृतिक मान-मूल्यों के सन्दर्भ में अपनी दृष्टि देता है, संस्कृति में आ रही विकृति को दूर करने की चिन्ता करता है। डॉ. देवेन्द्र दीपक की चिन्ताएँ एवं परिष्कारक निष्कर्ष भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

कूटशब्द : संस्कार, संस्कृति, संरक्षण, साहित्य, आक्रान्त, विकृति, चिन्ताएँ

भारतीय संस्कृति आज पाश्चात्य अपसंस्कृति की चपेट में है। वह अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति से दूर हो रही है और यह दूरी भारतवर्ष के उदार-दर्शन एवं उदात्त मानव मूल्यों के लिए शुभ नहीं है। डॉ. दीपक ने इस सन्दर्भ में गम्भीर चिन्ताएँ व्यक्त की हैं। उनकी सबसे बड़ी चिन्ता भारतीय मानस का अपनी ..मूल-परम्पराओं, अपने जीवन-मूल्यों और मान्यताओं से दूर जाने को लेकर है।

अँग्रेजों की दासता ने भारतीय व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर दिया। आजाद होने के बाद भी हमारे नेताओं ने अपने मूल की ओर लौटने, उसे चिन्हित करने के स्थान पर पश्चिमी सभ्यता को ही ओढ़ लिया। परिणामतः

सांस्कृतिक चेतना क्षीण हुई। यह उनकी चिन्ता का विषय है। वे लिखते हैं- "भारत में क्या है। जो आज अपने मूल केन्द्र से जुड़ा है विद्यालय, घर, बाजार, अस्पताल, सेनगा, दफ्तर, न्यायालय, संसद, खेल इत्यादि सब अपने-अपने केन्द्र से च्युत हैं। काव्यशास्त्र में एक काव्य-दोष है- 'च्युत-संस्कृति-दोष'। आज भारत का पूरा जीवन-चक्र 'च्युत-संस्कृति-दोष' से दूषित है। भारत की आस्मिता आज दाँव पर लगी है।' 'सम्प्रति: अपने प्रति' शीर्षक आलेख में वे पुनः लिखते हैं- "संस्कृति का क्षेत्र 'अप' संस्कृति के प्रसार में रुचि ले रहा है। 'दैविक' को हास्यास्पद तथा 'दैहिक' और 'भौतिक' को सर्वोच्चता दी जा रही है। आत्मा की पुकार का सवाल उठाया ही नहीं जाता। अंग-प्रदर्शन को केन्द्र में लाने के प्रयास हर तरफ दिख रहे हैं। पूरी कोशिश की जा रही है कि भारत का 'परिवार' टूट जाए। हमारे घर होटल बनते जा रहे हैं।" डॉ. देवेन्द्र दीपक की ये चिन्ताएँ निराधार नहीं हैं। जिस समाज में बूढ़े और अनुपयोगी हो गये गाय-बैल भी सड़क पर निराश्रित मरने के लिए नहीं छोड़े जाते थे आज उसी समाज के कितने ही परिवार वृद्ध और असहाय माता-पिता तक को घरों में साथ रखने को तैयार नहीं हैं, उन्हें वृद्धाश्रमों में भेज रहे हैं। रेलगाड़ियों में बैठकर निराश्रित छोड़ रहे हैं। भारतीय समाज में मानवीय मूल्यों का यह पतन निश्चय ही चिन्ता का विषय है

डॉ. देवेन्द्र दीपक इस पतन का कारण सांस्कृतिक परम्पराओं की अवमानना मानते हैं। भारतवर्ष भी पश्चिम का अनुकरण करता हुआ उपभोक्तावाद का शिकार हो रहा है। उनकी मान्यता है- "वैश्वीकरण और बाजारवाद का सीधा परिणाम है उपभोक्तावाद। उपभोक्तावाद विलासिता के लिए अनुकूल मनोभूमि तैयार करता है। इस मनोभूमि में विवेक और संयम के लिए अपनी जगह बना पाना मुश्किल है। हमारा अपना देशकाल था। हमारा अपना देशीपन था। गरीबी में भी हम नाच-गा लेते थे। सब ठीक-ही-ठीक था, ऐसा नहीं था, लेकिन सब बुरा-ही-बुरा था, ऐसा भी नहीं था। सुधार की गुंजाइश थी। वे किये जा सकते थे। उपभोक्तावाद और बाजारवाद ने हमारे जीवन को महंगा बना दिया है। पारस्परिक सहयोग की अमृत-वृत्ति क्षरित है और अप-संस्कृति की संकीर्ण एवं स्वाधी मनोवृत्ति अपार विस्तार पा रही है। डॉ. देवेन्द्र दीपक का चिन्तनशील मन इस सांस्कृतिक अवमूल्यन के दुष्परिणामों के प्रति सचेत करता है।

डॉ. देवेन्द्र दीपक ने उपभोक्तावाद के एक और खतरे को सांस्कृतिक-सन्दर्भों में संकेतित किया है। उनका मत है- "उपभोक्तावाद हमारी जेब में हाथ डालने के लिए सेक्स और ड्रग्स को हथियार बना रहा है। प्रभाव हमारे परिवारों पर पड़ रहा है। कभी अर्थ-प्रधान था अब सेक्स के लिए अर्थ और अर्थ के लिए सेक्स प्रधान हो गया है। अर्थ और काम- मनुष्य की सहज दुर्बलताएँ हैं जो उसे भ्रष्ट और पतित करती हैं, उसके प्रगतिपथ

में बाधक बनती हैं। इसलिए भारतीय सांस्कृतिक चेतना अर्थ के अनर्थकारी कारक लोभ को नियन्त्रित करने के लिए 'सन्तोष' के महान मूल्य को प्रतिष्ठापित करती है तथा 'काम' के उद्दाम वेग को संयम के, लोक-मर्यादा के अंकुश से नियमित कर सामाजिक जीवन में आर्थिक भ्रष्टाचार और दाम्पत्येतर यौन सम्बन्ध अर्थात् उन्मुक्त व्यभिचार को कम करती रही है। किन्तु आजादी के बाद सांस्कृतिक मान-मूल्यों की अवमानना ने 'सन्तोष' और 'संयम' को ताक पर रखकर समाज में आर्थिक भ्रष्टाचार एवं पौन-अपराधों का जो नंग-नाच समाज में प्रोत्साहित किया है उसकी काली-छाया रन्हीं निर्दोष बच्चियों तक पर नर की पशुता प्रमाणित कर जन-जीवन को आतंकित एवं संकटापन्न कर रही है। डॉ. देवेन्द्र दीपक के शब्दों में ये अपराध हमारे 'व्युति-संस्कृति-दोष' के पाप के अभिशाप हैं।

डॉ. देवेन्द्र दीपक का सांस्कृतिक-विमर्श केवल कठोर यथार्थ-युक्त कठिन समस्या को ही रेखांकित नहीं करता, वह उसके समाधान के प्रति भी ध्यान आकृष्ट करता है। समाज में बढ़ते अपराधों को नियन्त्रित करने में पुलिस-प्रशासन और न्यायपालिका की भूमिका अत्यन्त सीमित है। समाज का फलक इनकी कार्यक्षमता की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है। फिर इनकी सक्रियता आपराधिक-कुकृत्य हो जाने के बाद अस्तित्व में आती है। आवश्यकता आपराधिक दुर्घटना के उपरान्त अपराधी को दण्डित करके पीड़ित को न्याय दिलाने की उतनी नहीं है जितनी कि अपराध न होने देने की है।

अपराध न हो इसके लिए केवल प्रशासन और कानून का भय पर्याप्त नहीं है। यदि यह पर्याप्त होता तो समाज में अपराध नहीं होते। अपराध रोकने के लिए मनुष्य को मानसिक उपचार चाहिए, दूषित विचारों में परिष्कार चाहिए। वह प्रशासन और कानून से नहीं, पारिवारिक संस्कारों, सामाजिक-व्यवहारों एवं लोक-मर्यादाओं से पोषित आत्मानुशासन से ही सम्भव है। परिवार और समाज के स्तर पर ही व्यक्ति को सुधारा जा सकता है। उसे अपराधी बनने से रोका जा सकता है। इसीलिए डॉ. देवेन्द्र दीपक लिखते हैं- "भारत की शक्ति के स्रोत हे परिवार। परिवार में बड़े-बुजुर्गों की रोक-टोक। हमारी भाषा में एक प्रयोग है-'रहन-सहन'। आज 'रहना' तो है। लेकिन 'सहन' गायब है। परिवारों में एक समझाइश दी जाती थी 'कम खाना, गम खाना।' आज 'न कम खाने' की बात है। 'न गम खाने' की। दोष हमारा है। उन सबका है। जो शिखर हैं-कहीं भी हों। हम एक ऐसे वाहन पर चढ़े हैं, जिसमें न ब्रेक है। न घण्टी। अपसंस्कृति के इस खतरनाक वाहन से उतरे बिना हमारी खैर नहीं। जितनी जल्दी उतर आएँ उतना ही अच्छा है।

डॉ. देवेन्द्र दीपक की दृष्टि में "जीवन एक कला है। यह श्रेष्ठ, उदात्त, समग्र, लोकनिष्ठ और मर्यादित कैसे हो?" प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस जटिल प्रश्न का सरल उत्तर हमारी संस्कृति में सन्निहित 'मर्यादा पालन' है। हमारे सारे महापुरुषों ने जीवन को श्रेष्ठ, उदात्त, समग्र और लोकनिष्ठ बनाने के लिए 'मर्यादित' आचरण किया। इसीलिए डॉ. देवेन्द्र दीपक का सांस्कृतिक-विमर्श मर्यादित रहने की प्रेरणा देता है- *"भारत के ऋषियों ने शताब्दियों के शोध के बाद एक सूत्र दिया था मर्यादा-बोध। आहार-विहार में मर्यादा। आचार-विचार में मर्यादा। त्याग-भोग में मर्यादा। व्यक्ति-समष्टि में मर्यादा। मर्यादा सन्तुलन और समन्वय की साबना की दिशा खोलती है। अतिरेक की सन्तान का नाम है व्यतिरेक: मर्यादा-बोध ही है जो व्यक्ति को अतिरेक से बचाता है। लेकिन मर्यादा गुलाब जामुन नहीं, नीम के पत्तों का चबाना है।* आज अप-संस्कृति के गुलाबजामुन खाने में मस्त समाज अपराध के मधुमेह की असाध्य व्याधि से ग्रस्त होकर अपने संगठन को जीर्ण-जर्जर कर रहा है। समाज का नेतृत्व करने का दम्भ पालने वाले वाक् संयम खोकर अमर्यादित भाषा का प्रयोग करते हुए सामाजिक-सौहार्द में विष घोल रहे हैं। मर्यादा-बोध की सांस्कृतिक-औषधि ही ऐसी भयावह व्याधियों का उपचार कर सकती है।

भारतीय-संस्कृति की निवृत्ति-प्रधान जीवन-दृष्टि ने मनुष्य को संकीर्णता, स्वार्थपरता और आत्म-पोषण से मुक्त रहकर उदारता, परोपकारिता और परपोषण में प्रवृत्त रहने का सन्देश दिया है। इसलिए जो कुछ हमारे पास है उसका निस्वार्थ भाव से दीन दुखियों को दान करना भारतीय-मन का स्वभाव रहा है। सीमित सन्दर्भों में आज भी है किन्तु अप-संस्कृति के आक्रमण ने इस पारम्परिक भारतीय-मानस को दूर तक दूषित करके स्वार्थी और आत्मनिष्ठ बनाया है। परिणामतः कल तक जो बालक गाँव में जन्म लेकर वहाँ से पोषण पाता हुआ, निर्धन माता-पिता के ऋणग्रस्त कन्धों पर अपना भार डालकर नगर में पढ़-लिखकर नौकरी पाकर नगर का ही होकर रह जाता था, पलटकर गाँव की ओर नहीं देखता था आज वह स्वदेश के साधनों से पुष्ट होकर पैसा कमाने विदेश भाग रहा है और फिर वापस नहीं लौट रहा। घर, परिवार और समाज से जो कुछ ले सकते हो, ले लो, छीन-झपट लो, लेकिन अपनी आय में से उन्हें कुछ मत दो-यह स्वार्थी सोच सामाजिक जीवन के लिए घातक है। डॉ. देवेन्द्र दीपक ने एक उदाहरण देते हुए इस सांस्कृतिक संकट को रेखांकित किया है- *"वेद की एक उक्ति है- 'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त सं किर।' सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से बिखेरो। बड़ई के दो औजार ह-'बसूला' और 'रंदा'। बसूला लकड़ी छीलते समय छीलन अपनी ओर डालता है। रंदा छीलन बाहर की ओर फेंकता है। आज की सभ्यता आदमी को 'बसूला' बना रही है। नई पीढ़ी में स्वत्व बोध*

बढ़ रहा है। यह बढ़ता हुआ स्वत्व-बोध भारत के भावी पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सम्भावित विस्फोट की मूक आहट है। व्यक्ति और समष्टि के मध्य सन्तुलन अपेक्षित है। कृतज्ञता का ज्ञापन तो पशु-भी करते हैं। कृतघ्नता सबसे बड़ा पाप है। किसी के किये गये उपकारों को सिरे से नकार देना मनुष्य के पतन की पराकाष्ठा है। संस्कृति मातृ-कण, पितु-अण, ऋषि-ऋण और देवऋण के रूप में मनुष्य को व्यक्तिगत स्थायी-सुविधाओं से ऊपर उठकर परिवार, समाज और प्रकृति के प्रति दायित्व बोध सिखाती है। इसी सीख से देश को अब्दुल कलाम जैसे महान वैज्ञानिक मित पाते हैं। अतः अपनी संस्कृति के इस पक्ष को पुष्ट करने की आवश्यकता है। आज भारतीय साहित्य और कला को विकृत करने के कुचक रचे जा रहे हैं। साहित्य को उसके मूल प्रयोजन लोक मंगल से दूर करके निम्न स्तर के मनोरंजन और कामवासनाओं के विकृत प्रदर्शन की ओर धकेला जा रहा है। मकबूल फिदा हुसैन जैसे तथाकथित किन्तु अत्यन्त प्रायोजित, प्रतिष्ठित और पुरस्कृत किये जाने वाले कलाकारों द्वारा बनासे गये नग्न चित्रों में कला की विकृतावस्था देखी जा सकती है। साहित्य और कला में यह विकृतीकरण वास्तव में भारत की संस्कृति को कुरूप करने का षड्यंत्र है। भारतीय समाज को उसकी परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं से दूर करने की कूट रचना है। डॉ. देवेन्द्र दीपक के अनुसार- “कला संस्कृति का अलंकार है और संस्कृति कला का अधिष्ठान; यह हमारा बोधवाक्य है। कला, करुणा और मानवता की संयुक्ति हमारे सामाजिक जीवन में पवित्र त्रिवेणी का निर्माण करती है। यह भी हमारा बोध-बिन्दु है। यह एक कसौटी है। इस पर हम कला कर्म को करें। साहित्य और कला जगत में जो घटित हो रहा है। उसका परीक्षण करें। जिस प्रकार की स्थितियाँ हमारे सामने खड़ी कर दी गयी हैं, उनसे नजात पाने की युक्तियाँ खोजें। यह एक जरूरी काम है। वस्तुतः साहित्य और कला संस्कृति-विहग के दो सशक्त पंख हैं जिनके सहारे वह विश्व-गगन में ऊँची उड़ान भरता है। चिरजीवी होता है। विश्व में भारतीय संस्कृति के सम्मान का प्रमुख आधार भारतवर्ष का महान साहित्य-चिन्तन और उत्कृष्ट कलात्मक साधना ही है। इन्हीं के बल पर वह वैश्विक समाज के समक्ष सतत गौरवान्वित है। आज भारत विरोधी शक्तियाँ भारतीय समाज के अन्दर सक्रिय होकर साहित्य और कला के सुदृढ़ ध्वज दण्डों को दीमक की तरह चाटकर कमजोर कर रही हैं। संस्कृति के कीर्तिकलश को विश्व-शिखर पर पूर्ववत् प्रतिष्ठित रखने के लिए कला और साहित्य को संरक्षित करना होगा।

पर्व और उत्सव संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। ये केवल हर्ष उल्लास का ही विषय नहीं हैं, देश की परम्पराओं, विश्वासों, मान्यताओं, रीतियों आदि की सनातन संस्कृति के भी संवाहक हैं। समाज में मानवीय दृष्टि और

नैतिक मूल्यों के विकास एवं संरक्षण में इन पर्वों-उत्सवों की महती भूमिका है और इसीलिए हमारे ऋषियों-मनीषियों ने इनके साथ महत्त्वपूर्ण कथाएँ भी जोड़ दी हैं। आज समाज में उत्सव-पर्व तो आयोजित हो रहे हैं किन्तु उनकी पृष्ठभूमि को आलोकित कर उनके माध्यम से समाज को सार्थक दिशा-निर्देश देने वाली कथाएँ प्रायः विलुप्त हैं। बच्चे और युवा होली, दिवाली रक्षावन्धन आदि पर्व मना रहे हैं किन्तु इनसे जुड़ी प्रेरक घटनाओं और कथाओं से प्रायः अनभिज्ञ हैं। यह अनभिज्ञता अपनी संस्कृति से दूर जाने का संकेत देती है। डॉ. देवेन्द्र दीपक ने इस खतरे को रेखांकित किया है। बच्चों के लिए तैयार की गयी पुस्तक 'भारती पहली' में होली पर प्रकाशित एक पाठ को उद्धृत करते हुए उन्होंने प्रश्न उठाया है—“यह कैसा पाठ है? होली के त्योहार के पीछे की कथा गायब। विचारणीय बिंदु यह नहीं है कि यह पाठ्य पुस्तक कब तैयार हुई? यह पाठ किसने लिखा? कौन इस पुस्तक का संपादक है? विचारणीय बिंदु है होली के पाठ से होलिका के पूरे सन्दर्भ का छूट जाना। कारण कुछ भी हो, लेकिन जो सामने है। वह यह कि पूरे सन्दर्भ से कटा-छटा, आधा-अधूरा सच। यदि आने वाली पीढ़ियों को अपनी सनातन संस्कृति से जोड़ कर रखना है। भारतवर्ष की भारतीयता को संरक्षित करना है तो यह आवश्यक है कि नयी पौध को पूरे सच से सन्दर्भों से जोड़कर अवगत कराया जाय। आधे-अधूरे कटे-फटे विवरण तो भ्रान्तियाँ निर्मित कर हानि ही करेंगे।

भारतीय संस्कृति में 'प्रेय' और 'श्रेय' दोनों को महत्त्व दिया गया है। दोनों के मध्य चयन का प्रश्न उपस्थित होने पर भारतीय-मनीषा श्रेय के वर्ण की प्रेरणा देती है किन्तु सामान्य दैनन्दिन जीवन में दोनों के सन्तुलन का पथ निर्देशित करती है। डॉ. देवेन्द्र दीपक ने भी संस्कृति के इस सन्तुलन बिन्दु का समर्थन किया है। 'कुण्डली चक्र पर मेरी वार्ता शीर्षक लेख में वे लिखते हैं—

“इस मानसिक हलचल में दो शब्द मैफिल और मंदिर मेरी कल्पना में उभर गये। इन दोनों शब्दों पर विचार करता हूँ तो एक आमोद-प्रमोद और विलास का सूचक लगता है तो दूसरा आत्मा शक्ति और प्रबोधन आदि का प्रतीक मालूम होता है। मैफिल में हम आनन्द पाते हैं तो मंदिर में शिक्षा। दोनों की तुलना के लिए कहीं तो कुछ लोग मैफिल को ऊँचा बताएँगे और कुछ लोग मंदिर को। वैसे दोनों में कौन श्रेष्ठ है। यह प्रश्न यहीं महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि क्या दोनों में से किसी एक को छोड़ा जा सकता है? क्या किसी एक की ही उपलब्धि में जीवन की समग्रता समाहित हो सकती है? शायद नहीं। दोनों ही आवश्यक हैं जीवन के लिए, मैफिल भी, मंदिर भी। आमोद-प्रमोद भी और उन्नयन भी, प्रसादन भी और प्रबोधन भी। आधुनिक भारतीय समाज में सन्तुलन बिगड़ रहा है। प्रसादन का पलड़ा भारी होता जा रहा है। प्रबोधन उपेक्षित

हो रहा है। साहित्य, कला, धार्मिक प्रवचन, पर्व-उत्सव जो प्रसादन के आवरण में प्रबोधन देते रहे हैं, अब केवल प्रसादन को समर्पित हो रहे हैं। अर्थ की अनर्थकारी लालसा विद्वानों, साहित्यकारों, कलाविदों को उनके प्रमुख दायित्व प्रबोधन से विरत कर सस्ती लोकप्रियता और धन के लोभ में निम्नस्तरीय प्रसादन के प्रोत्साहन में व्यस्त कर रही है। यह स्थिति समाज और साहित्य-दोनों के लिए अशुभ है।

विश्व की अनेक सभ्यताओं में विवाह युवक और युवती के पारस्परिक सुख, यौन-तृप्ति और साहचर्य हेतु पारस्परिक सहमति पर आधारित एक समझौता मात्र है जिसे आवश्यकता अनुभव होने पर एक से तोड़कर पुनः दूसरे से किया जा सकता है किन्तु भारतीय-संस्कृति में विवाह उपर्युक्त अन्य सन्दर्भों से पहले सामाजिक-पारिवारिक दायित्वों के निर्वहन की प्रतिज्ञा भी है जिसे तोड़ना उचित नहीं समझा जाता विवाह-पद्धति में भाँवरों की रीति सम्पन्न होने के अनन्तर सप्तपदी के मंत्रों-वचनों के माध्यम से वर-वधू दोनों ही दायित्वों के निर्वाह में सदैव परस्पर सहयोग करने की प्रतिज्ञा करते हैं। 'काँवर श्रवण कुमार की' शीर्षक रचना में पत्नी विद्या के दायित्वों से पलायन पर क्षुब्ध श्रवण कुमार के एकालाप में प्रतिज्ञा-निर्वाह का दायित्व बोध इस प्रकार मुखर होता है-

“सप्तपदी की हमने

मंत्रोच्चार के साथ

अग्नि को साक्षी मान

सहजीवन के लिए हुए हम वचनबद्ध !

हुए हम सूत्रबद्ध...

हमारा चयन / प्राथमिकताएँ हमारी

मौन रहकर भी करती हैं संकेत

संस्कृति की सीढ़ी के

किस सोपान पर खड़े हैं हम।

डॉ. देवेन्द्र दीपक का चिन्तनशील मन भारतीय समाज की इस देशज पहचान को बचाने के लिए व्याकुल है। भारतीय संस्कृति में तीर्थ-यात्रा का विशेष महत्त्व है। डॉ. देवेन्द्र दीपक अनास्था और नास्तिकता के विषाक्त वातावरण में तीर्थ-यात्रा की ओर प्रेरित करने के लिए लिखते हैं-

“तीर्थ बुद्ध करते हैं

तीर्थ शुद्ध करते हैं

तीर्थ आँख खोलते हैं

तीर्थ जय बोलते हैं। भारतीय-संस्कृति में तीर्थ रचे-बसे हैं। वे हमारी सांस्कृतिक शिराओं का रक्त-प्रवाह हैं। आज शासन-प्रशासन तीर्थों को धार्मिक, ऐतिहासिक और पौराणिक महत्त्व से अधिक अपनी आर्थिक आय के संसाधन के रूप में पर्यटन-स्थल मानकर विकसित कर रहा है। परिणामतः तीर्थों की पवित्रता नष्ट हो रही है और व्यावसायिकता तथा अपराध बढ़ रहे हैं। डॉ. दीपक का सांस्कृतिक-विमर्श इन अवांछनीय स्थितियों के प्रति गम्भीर चिन्ता व्यक्त करता है तथा भारत की एकता के सन्दर्भ में उन्हें नये ढंग से व्याख्यायित करता है-

“भारत के तीर्थ

भारत की गति को

भारत की मति को

भारत की चिति को

प्रस्तुत करते हैं...

तीर्थों का व्यावसायीकरण पर्यटकों के मनोरंजन की आवश्यकता को पूरा कर सकता है किन्तु वह तीर्थयात्रियों की आत्मिक शुद्धता, मनशान्ति और आध्यात्मिकता को पुष्ट नहीं कर सकता। तीर्थों की यात्रा का प्रयोजन मनोरंजन नहीं हो सकता, होना भी नहीं चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्यत्र अनन्त सम्भावनाएँ हैं। तीर्थों की पवित्रता का संरक्षण हमारी सांस्कृतिक आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति हेतु हर सम्भव प्रयत्न अपेक्षित है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. देवेन्द्र दीपक के सम्पादकीय, पृष्ठ 109
2. डॉ. देवेन्द्र दीपक के सम्पादकीय, पृष्ठ 107
3. डॉ. देवेन्द्र दीपक के सम्पादकीय, पृष्ठ 102
4. सम्प्रति : अपने प्रति, पृष्ठ 58-59
5. सम्प्रति : अपने प्रति, पृष्ठ 124
6. डॉ. देवेन्द्र दीपक के सम्पादकीय, पृष्ठ 49
7. पुरवैया (व्यक्तित्व अंक, सितम्बर 2007) - पृष्ठ 14-15



8. काँवर श्रवण कुमार की, पृष्ठ 33
9. काँवर श्रवण कुमार की, पृष्ठ 37
10. काँवर श्रवण कुमार की, पृष्ठ 38-40
11. सूरज बनती किरण, पृष्ठ 13